गीता का चरम तत्त्व : शरणागति

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

गीता का चरम तत्त्व शरणागति है। इस विषय पर विचार करने से पहले यह उचित प्रतीत होता है कि शरणागति के संबंध में अपनी धारणा को स्पष्ट कर लिया जाय।

साधारण तौर पर आस्तिक मनुष्यों के भगवान् से तीन प्रकार के संबंध होते हैं। 99 प्रतिशत व्यक्ति भगवान् से अपनी किसी आवश्यकता को पूर्ण कराना चाहते हैं, जैसे हे प्रभु मुझे नौकरी मिल जाय, मेरे बेटे का विवाह अच्छी जगह हो जाय, मुझे रोग से मुक्ति मिल जाय आदि, आदि। इन लौकिक विषयों की याचना प्रभु से करना हमारा स्वभाव बन गया है। विचार करें तो औरों से माँगने की तुलना में भगवान् से माँगना लाख गुना अच्छा है। इसीलिए तुलसीदास ने कहा है—

जग जाँचिये कोऊ न, जाँचिये जो जिय जाँचिये जानकी-जानहि रे।
जेहि जाँचत जाचकता जरि जाय जो जारति जोर जहानहि रे।। (कवितावली 7/28/1-2)

अर्थात् ओ मेरे मन उचित तो यही है कि संसार में याचना किसी से न की जाय, किन्तु अगर याचना करनी ही पड़े तो प्रभु से ही याचना करनी चाहिए, जो उदारतावश इतना दे देते हैं कि याचना की वह निकृष्ट वृत्ति ही जल जाती है, जो सारे संसार को जलाती रहती है। तुलसीदास की इस स्थापना को तो विवेकीजन स्वीकार कर लेंगे कि औरों की तुलना में भगवान् से माँगना बहुत अच्छा है, किन्तु कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो यह मानते हैं कि प्रभु से याचना कर हम लोग बहुत बड़ा अन्याय करते हैं। क्योंकि सामान्यत: लौकिक याचना के द्वारा हम भगवान् को तो साधन बनाते हैं और साध्य होता है हमारा छोटा सा, तुच्छ सा कोई स्वार्थ। इससे तो यही सिद्ध होता है कि हम लोग भगवान् से भी अधिक महत्त्व इन छोटे स्वार्थों को दे रहे हैं, जो अनुचित है।

थोड़े से लोग ऐसे होते हैं जो भगवान् को ही प्राप्त करना चाहते हैं। और इसके लिए वे कर्मयोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि को अपना साधन बनाते हैं। निश्चय ही ऐसे लोग पहली कोटि के लोगों से बहुत श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि उनके साध्य भगवान् ही हैं। और यह भी सच है कि अपनी साधना के द्वारा ऐसे बहुत से लोगों ने भगवान् को प्राप्त किया है। थोड़े से लोग ऐसे भी हैं जो चाहते तो भगवान् को ही पाना है, लेकिन इसके लिए उन्हें अपने साधन बहुत अपर्याप्त लगते हैं। वे मानते हैं कि हम लोग तो माया के बन्धन में ऐसे बँधे हुए हैं कि उससे अपने बल पर हम मुक्त नहीं हो पायेंगे। बन्धन से मोटे तौर पर दो ही प्रकार से छुटकारा मिल सकता है, या तो बँधा हुआ व्यक्ति बन्धन से बहुत बड़ा हो जाय या बहुत छोटा हो जाय। योग और ज्ञान का साधक साधना सिद्ध होने पर माया के बन्धन से बहुत बड़ा हो जाता है और उसे तोड़ देता है। भक्ति के द्वारा साधक माया के बन्धन से छोटा हो जाता है और वह कह उठता है—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूय:। (श्रीमद्भागवत 6/11/24)

अर्थात् हे भगवान् मैं आपके चरणकमलों के अनन्यभाव से आश्रित दासों का भी दास हूँ और अगले जन्म में भी यही बनना चाहता हूँ। इसी विनम्रता के कारण भक्त माया के बन्धन से छोटे होकर मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो लोग अपने बल पर माया के बन्धन से न बड़े हो सकते हैं न छोटे वे क्या करें? वे भगवान् को पाना तो चाहते हैं, माया के बन्धन से छूटना भी चाहते हैं, किन्तु अपने बल से छूट पाने का भरोसा उन्हें नहीं होता। ऐसे ही लोग कातर होकर पूछते हैं क्या बन्धन से मुक्त होने का कोई और रास्ता भी है?

तुलसीदास ने बहुत ही विनम्रतापूर्वक कहा है कि बन्धन से मुक्त होने का एक तीसरा रास्ता भी है और वह रास्ता है जिसने बाँधा है वह स्वयं खोल दे। उनकी उक्ति है,

तुलसिदास यह जीवमोहरजु, जोइ बाँध्यो सोइ छोरे। (विनयपत्रिका 102/10)

अर्थात् अज्ञान की रस्सी से जीव को जिसने बाँधा है वह अगर कृपा करे तो इसे खोल भी सकता है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है,

तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला, छुटिहि तुम्हारे छोरे। (विनयपत्रिका 114/10)

प्रभु अज्ञान की माया की शृंखला से मैं स्वयं तो अपने को मुक्त नहीं कर सकता, किन्तु यदि तुम्हारी कृपा हो तो यह बन्धन सहज ही छूट सकता है। तुम्हीं ने बाँधा है। यदि तुम कृपा करो तो खोल भी सकते हो और मुझे अपना भी सकते हो। यह जो तीसरी बात है कि मेरे साध्य भी प्रभु हैं और साधन भी प्रभु, यही शरणागति है। ऐसे व्यक्ति पाना तो चाहते हैं प्रभु को किन्तु उन्हें अपने बलबूते पर विश्वास नहीं होता, उन्हें यह नहीं लगता कि वे अपने सीमित साधनों से असीम प्रभु को प्राप्त कर सकेंगे। इसीलिए वे प्रभु को ही अपने साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। **नारद पंचरात्र** के अन्तर्गत भारद्वाज संहिता में इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

निश्चितेऽनन्यसाध्यस्य परत्रेष्टस्य साधने। अयमात्मभरन्यासः प्रपत्तिरिति चोच्यते॥ (भारद्वाज संहिता 7)

अर्थात् अनन्य साध्य इष्ट (प्रभु) की प्राप्ति के लिए प्रभु को ही साधन के रूप में ग्रहण कर उनके प्रति आत्मभरन्यास सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करने को ही प्रपत्ति कहा जाता है। प्रपत्ति ही शरणागति है। प्रपत्ति का व्युत्पत्तिगत अर्थ है विशेष रूप से किसी के पास जाने, पहुँचने या किसी को प्राप्त करने का भाव। साधना के क्षेत्र में प्रपत्ति का अर्थ है प्रभु को पाने के लिए प्रभु को ही साधन के रूप में स्वीकार कर उनकी शरण में आ जाना। साधना के अन्तर्गत शरणागति का भी यही अर्थ है, प्रभु की शरण में आ जाना। इसीलिए प्रपत्ति और शरणागति को तथा प्रपन्न और शरणागत को समानार्थक माना जाता है।

ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि **गीता** में बार-बार शरणागति की इस भूमिका को संकेतित किया गया है। सतही दृष्टि से देखने पर लग सकता है कि **गीता** के अन्त में ही शरणागति की बात कही गयी है, यह ठीक नहीं है। प्रभु **गीता** में तत्त्व विवेचन का आरम्भ ही करते हैं अर्जुन के द्वारा शरणागति ग्रहण करने के अनन्तर। अर्जुन को जब लगता है कि वह अपने कर्त्तव्य....., अपने धर्म के सम्बन्ध में निर्णय करने में स्वयं असमर्थ है तब वह प्रभु से प्रार्थना करता है:

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ (गीता 2/7)

अर्थात् कार्पण्य (दैन्य) रूपी दोष से मेरा स्वभाव विकृत हो गया है और मैं अपने धर्म (कर्त्तव्य) के बारे में सम्मोहित हो गया हूँ। उसका निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ अतः आपसे ही प्रार्थना करता हूँ कि जो साधन मेरे लिए निश्चितरूप से कल्याणकारक हो मुझे उसकी शिक्षा दीजिए क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, आपका शरणागत हूँ। स्मरण रखना चाहिए कि **वाल्मीकि रामायण** के शरणागति सम्बन्धी श्लोक में भी प्रपन्न शब्द का ही प्रयोग किया गया है:

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचिते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥ (6/18/33)

विभीषण के द्वारा प्रभु की शरण ग्रहण करने के अनन्तर उसे आशीर्वाद देते हुए श्रीराम अपने व्रत का संकेत करते हुए यह कहते हैं कि एक बार भी कोई मेरी शरण में आ जाए और यह कहे कि मैं तुम्हारा ही हूँ (एकमात्र तुम्हीं पर आश्रित हूँ) तो मैं उसको सब प्राणियों से अभय कर देता हूँ। शरणागति के इस श्लोक में भी प्रपन्न शब्द का ही प्रयोग

है और **गीता** में भी इसी प्रपन्न शब्द का प्रयोग किया गया है। शरणागत होकर ही अर्जुन प्रभु से प्रार्थना करता है कि जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो, मंगलमय हो तुम उसको निश्चित कर मुझे बताओ। किन्तु एक ओर तो वह कहता है कि प्रभु तुम मेरा शासन करो, मुझे उपदेश दो दूसरी ओर कहता है:

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।। (गीता 2/9)

अर्थात् हे गोविन्द, मैं युद्ध नहीं करूँगा। इतना कहकर वह चुप हो जाता है। यह तो बड़ी विचित्र..... बड़ी अनुचित बात है। अर्जुन प्रभु की शरण में जाकर उन पर अपना निर्णय लादना चाहता है कि मैं अपने गुरुजनों एवं नाते-रिश्तेदारों से युद्ध नहीं करूँगा और मन ही मन यह अपेक्षा करता है कि प्रभु उसका समर्थन करें। शरणागत को तो प्रभु की आज्ञा का निर्वाह करना चाहिए। प्रभु पर अपना निर्णय थोपने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

प्रभु को अर्जुन इतना प्रिय था कि उसकी असंगत उक्ति के बाद भी उन्होंने उसे प्रेमपूर्वक **गीता** का ज्ञान दिया, जिससे उसकी शरणागति पूर्ण हो सकी, सार्थक हो सकी।

अर्जुन ने युद्ध के दोषों को विस्तार से गिनाकर युद्ध से विरत होना चाहा था। वास्तव में वह अपने सम्मोह को छिपाकर प्रज्ञावादी की तरह युद्ध के दोषों का निरूपण कर रहा था। प्रभु जानते थे कि अर्जुन कैसा है? वे भली-भाँति समझ रहे थे कि यह युद्ध के प्रति वीतराग नहीं है, यह तो मोहवश धर्मयुद्ध से बचना चाहता है। यहाँ यदि इसके नाते-रिश्तेदार नहीं होते तो यह युद्ध करता और आगे भी यह युद्ध करेगा। यह तो अपने स्वजनों के मोह में आविष्ट होकर युद्ध से विरत हो रहा है। 'धर्मयुद्ध श्रेयस्कर नहीं है, धर्मयुद्ध अनुचित है', ऐसी मान्यता इसकी नहीं है। यदि इसके सामने कोई दूसरा शत्रु होता तो यह युद्ध करता। अत: प्रभु ने उसपर व्यंग्य करते हुए कहा:

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:।। (गीता 2/11)

हे अर्जुन तू बोल तो रहा है बड़े प्रज्ञावादी की तरह किन्तु मोहग्रस्त की तरह उनके लिए शोक कर रहा है जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए। वास्तविक ज्ञानी न तो मृतकों के लिए शोक करते हैं न जीवितों के लिए। आत्मा तो अमर है और यह देह नश्वर है अत: कर्त्तव्य का पालन करने के लिए यदि देह का नाश भी करना पड़े तो उससे विचलित नहीं होना चाहिए। प्रभु ने अर्जुन को समझाया कि तुम अपनी मोहपूर्ण आसक्ति को छिपाने के लिए जिन तर्कों का सहारा लेकर युद्ध से बचना चाहते हो, वे संगत नहीं है। युद्ध करने, न करने का निर्णय कर्त्तव्य बोध के आधार पर अनासक्तिपूर्वक करना चाहिए, केवल स्वजनों, सम्बन्धियों के मोह के कारण नहीं। चूँकि अर्जुन युद्ध से विरत होना चाहता था अपने सम्बन्धियों के प्रति मोह के कारण और अपनी इस कमजोरी को वह अपनी प्रज्ञा के घटाटोप के द्वारा छिपाना चाहता था, इसलिए प्रभु ने उसे कर्त्तव्य करने की विधि पहले समझायी। उन्होंने सच्चे विवेकी व्यक्ति द्वारा कर्म करने की पद्धति को समझाते हुए कहा:

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। (गीता 2/47)

अर्थात् सच्चा बुद्धिमान् व्यक्ति यह मानता है कि उसका अधिकार कर्त्तव्य पालन करने में, कर्म करने में ही है, उसके फलों में नहीं। अत: हे अर्जुन तू कर्मों के फल के लिए कर्म न कर अपितु कर्त्तव्यपालन के लिए कर्म कर और **सावधान** रह कि कर्म न करने के लिए भी तेरी आसक्ति न हो। यदि तू सच्चा विवेकी है तो सफलता और असफलता **में समान** रहकर अनासक्त भाव से कर्त्तव्य कर्म को करता रहेगा। श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि प्रज्ञावादी बनने के स्थान पर अपनी बुद्धि को शुद्ध कर तू निष्काम बुद्धि की शरण में जा। क्योंकि बड़े से बड़ा सकाम कर्म भी बुद्धियोग की तुलना में बहुत निम्न श्रेणी का है। **गीता** में पहली बार **शरण** शब्द का प्रयोग इसी सन्दर्भ में हुआ है।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा: फलहेतव:। (गीता 2/49)

अर्थात् फल की कामना से कर्म करने वाले बहुत दीन हैं। जो सचमुच बुद्धि की शरण ग्रहण करता है वह तो

सुकृत और दुष्कृत, पुण्य और पाप दोनों से ऊपर उठ जाता है। वह इस प्रकार कर्म करता है कि न तो उसे पुण्य स्पर्श कर पाता है, न पाप किन्तु अर्जुन बुद्धि की शरण में जाने की स्थिति में नहीं था। अर्जुन ने प्रभु से शुद्ध बुद्धि वाले स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के लक्षण तो सुन लिए किन्तु सुनने के बाद प्रश्न किया:

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन। तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ (गीता 3/1-2)

अर्थात् हे जनार्दन यदि आप कर्म की तुलना में बुद्धि को..... ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं तो मुझे इस भयंकर युद्ध कर्म में क्यों लगाना चाहते हैं? आपके इन मिले-जुले वचनों से तो मेरी बुद्धि मोहित हो रही है, कर्त्तव्य कर्म का निर्णय नहीं कर पा रही है। अत: आप उस एक बात को निश्चित कर मुझे बताइये, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूँ।

शरणागतवत्सल प्रभु अर्जुन की इस उक्ति से क्षुब्ध नहीं होते। उनके हृदय में उसके प्रति करुणा का ही संचार होता है। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि वास्तविक शरण्य तो प्रभु ही हैं। किसी की भी शरण में व्यक्ति इसीलिए जाता है कि शरणदाता उसके संकटों को दूर करेगा, उसका सही मार्गदर्शन करेगा। ऐसा तो तभी संभव होगा जब शरणदाता सर्वसमर्थ होगा और सुलभ होगा। असमर्थ की शरण और दुर्लभ की शरण ग्रहण करने पर मनोरथ सिद्ध नहीं होता। जिसमें हमारा संकट दूर करने की क्षमता ही न हो उसकी शरण लेना तो निरर्थक ही है। इसी तरह यदि कोई समर्थ तो है किन्तु संकट के समय सुलभ नहीं है तो उसकी शरण लेना भी व्यर्थ है।

आपने किसी ऐसे व्यक्ति की शरण ली जो आपके संकट को दूर करना तो चाहता है लेकिन उसमें सामर्थ्य ही नहीं है कि दूर करे। तो ऐसी शरण से क्या लाभ होगा? ऐसा व्यक्ति है जो आपका कष्ट दूर तो कर सकता है लेकिन आपको सुलभ ही नहीं है। आपकी वहाँ तक पहुँच ही नहीं है, तो ऐसे व्यक्ति की शरण लेकर क्या करेंगे।

हमने माना कि तगाफुल न करोगे लेकिन
ख़ाक हो जायेंगे हम तुमको खबर होने तक।

जब तक हमारी प्रार्थना तुम तक पहुँचेगी, तबतक खाक हो जायेंगे। तुमको जब समाचार मिलेगा, तब तुम गफलत नहीं करोगे, यह तो मान लिया लेकिन तुम्हारे तक हमारी पहुँच ही नहीं। यह दोनों स्थितियाँ असमर्थ की शरण और दुर्लभ की शरण, यह उचित नहीं है। शरण में वही ले सकता है जो सर्वपर हो, सर्वसमर्थ हो और सुलभ हो।

इस विचार का निष्कर्ष तो यही है कि वास्तविक शरणदाता तो प्रभु ही हैं, क्योंकि वे ही सर्वपर हैं, सर्वसमर्थ हैं और सर्वाधिक सुलभ हैं। **गीता** में प्रभु के इन पक्षों को क्रमश: उद्घाटित किया गया है और यह संकेत बार-बार दिया गया है कि प्रभु की ही शरण में जाना चाहिए। इसी तरह सच्चे शरणागत की भी दो आधारभूत विशेषताएँ हैं, अनन्यता और निस्साधनता। इस संदर्भ में मुझे यामुनाचार्य जी का श्लोक याद आ गया—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी, न भक्तिमांस्तच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं, त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥ (श्रीआलवन्दार स्तोत्रम्-25)

अर्थात् मैं न धर्मनिष्ठ हूँ न आत्मज्ञानी हूँ और न आपके चरणों में भक्तिमान ही हूँ। मैं तो अकिंचन हूँ, निस्साधन हूँ, अनन्यगति हूं, समस्त अन्य आश्रयों का त्यागकर आपके शरणागत रक्षक चरणकमलों की शरण में आया हूँ।

अर्जुन में अनन्यता तो परिलक्षित होती है किन्तु उसे अभी तक अपनी बुद्धि का थोड़ा अभिमान है। इसीलिए वह युद्ध न करने का अपना आग्रह छोड़ना नहीं चाहता। अर्जुन बार-बार प्रभु से अपने धर्म के बारे में जिज्ञासा करता है, जो उसकी अनन्यता का ही सूचक है। हे प्रभु तुम ही मेरे धर्म का निश्चय कर मुझे उसका उपदेश दो। (गीता-2/7) या

तुम्हीं निश्चय करके मुझे बताओ जिससे मेरा कल्याण हो (गीता 3/2)। इन दोनों अनुरोधों में अनन्यता की झलक है। प्रभु ने जब अर्जुन को ध्यानयोग के द्वारा अपने मन पर नियंत्रण करने का निर्देश दिया तो उसके मन में शंका जागी कि यदि मैं इस कठिन योग से विचलित हो गया तो क्या मेरा नाश हो जाएगा? इस संशय का निवारण करने के लिए उसने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा,

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते। (गीता 6/39)

अर्थात् हे प्रभु आपके सिवाय कोई दूसरा मेरे इस संशय का उच्छेद नहीं कर सकता। यह उसकी अनन्यता का ही सूचक है। प्रभु ने उसे आश्वस्त करते हुए यह बताया कि योगभ्रष्ट का कभी नाश नहीं होता क्योंकि कल्याणपथ का पथिक कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। प्रभु को यह भी प्रतीत हुआ कि अर्जुन अभी तक मेरी सर्वपरता के संबंध में आश्वस्त नहीं है। अतः अपनी सर्वोपरिता का निरूपण करते हुए उन्होंने स्वयं ही कहा—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। (गीता 7/7)

अर्थात् हे अर्जुन, मुझसे परे, मुझसे बड़ा दूसरा कुछ भी नहीं है। सूत्र में मणियों के समान यह सारा का सारा संसार मुझमें पिरोया हुआ है।

प्रभु अर्जुन को यह भी समझाना चाहते हैं कि वह मायाग्रस्त होकर ही अपने कर्त्तव्य से विचलित हो रहा है। अतः उन्होंने कहा कि सत्, रज और तम इन तीन गुणोंवाली माया सारे संसार को मोहित किये हुए है। अतः संसारीजन अपने कर्त्तव्य का बोध नहीं कर पाते। मेरी यह दैवी माया अत्यंत दुस्तर है। इस माया को तो वे ही पार कर पाते हैं जो एकमात्र मेरी शरण में आ जाते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (गीता 7/14)

इसी क्रम में वे कहते हैं जिनका ज्ञान माया के द्वारा हर लिया गया है वे मूढ़ मेरी शरण ग्रहण नहीं करते। मेरी शरण में तो पुण्यकर्मा भक्त ही आते हैं, जो मुख्यतः चार प्रकार के हैं। आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन सब में ज्ञानी भक्त ही सर्वश्रेष्ठ है। वह तो मेरा आत्मा ही है और वह मुझमें ही स्थित है। ज्ञानी शरणागत की प्रशंसा करते हुए प्रभु ने कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (गीता 7/19)

अर्थात् अनेकानेक जन्मों के बाद यह सब कुछ वासुदेव ही है, इस भाव से ज्ञानी मेरी शरण ग्रहण करता है। वह महात्मा अत्यंत दुर्लभ है। उन्होंने यह भी कहा कि अज्ञानी लोग अपनी कामनाओं से प्रेरित होकर सामान्य लाभों के लिए भिन्न-भिन्न देवों की शरण में जाते हैं। जो भक्त जिस-जिस देवता को श्रद्धा के साथ पूजना चाहता है, मैं उसी श्रद्धा को उसी के प्रति अचल कर देता हूँ और वह मेरे ही द्वारा प्रदत्त उन भोगों को उस देवता के माध्यम से प्राप्त करता है। इस प्रकरण से ही यह स्पष्ट है कि वास्तविक शरण्य प्रभु ही हैं, सीमित शक्ति वाले देवी-देवता नहीं। प्रभु ने ज्ञानी शरणागत को दुर्लभ बताया है, किन्तु उन्होंने यह भी कहा है कि अनन्य चित्त वाला जो भक्त लगातार नित्य मेरा स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता 8/14)

इस विचित्रता की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए कि प्रभु शरणागत महात्मा को दुर्लभ बताते हैं और अनन्यचित्त भक्त के लिए अपने को सुलभ बताते हैं। महात्मा दुर्लभ है, प्रभु सुलभ हैं यह भाव सचमुच विलक्षण है। सच ही परमात्मा से अधिक सुलभ और कौन हो सकता है? हम सब परमात्मा में ही वास करते हैं। परमात्मा हमारे भीतर भी है और बाहर भी, लेकिन वह हमको दुर्लभ प्रतीत होता है क्योंकि हम माया के वशवर्ती हैं, अतः अनन्यचित्त होकर उसका नित्य स्मरण नहीं करते। शरणागत की पहली शर्त ही है अनन्यता अर्थात् अन्य समस्त आश्रयों का त्याग

कर एकमात्र प्रभु को अपना सब कुछ मान लेना। इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है–

मातारामोमत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने, नैव जाने, न जाने।। (श्रीरामरक्षास्तोत्रम् 30)

अर्थात् मेरी माता भी श्रीराम हैं, पिता भी श्रीराम हैं। मेरे स्वामी भी श्रीराम हैं, मेरे सखा भी श्रीराम ही हैं। दयालु श्रीराम मेरे सर्वस्व हैं। उन्हें छोड़कर किसी दूसरे को मैं नहीं जानता, नहीं जानता, नहीं जानता।

यह मनोभाव **अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः** का उत्कृष्ट उदाहरण है। शरणागत में जैसे ही अनन्यता और नित्यस्मरणशीलता आती है वैसे ही प्रभु उसे सुलभ हो जाते हैं। यहीं थोड़ा विचार इस बात का भी कर लेना चाहिए कि शरणागति की पूर्णता के लिए कौन-कौन से अंग आवश्यक हैं। **अहिर्बुध्न्य संहिता** में कहा गया है–

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्वेवरणं तथा।।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः। (2.27.30-31)

अर्थात् शरणागति के छह अंग हैं, प्रभु के अनुकूल रहने का संकल्प, प्रतिकूलता का निवारण, प्रभु रक्षा करेंगे इसका सुदृढ़विश्वास, रक्षक के रूप में प्रभु का वरण, आत्मसमर्पण और दीनता। इन छहों अंगों में भी सर्वप्रधान अंग है आत्मनिक्षेप अर्थात् पूर्ण आत्मसमर्पण।

अर्जुन की शरणागति में भी इन अंगों का सम्यक् विकास होना चाहिए, प्रभु को यह अभीष्ट है। अतः उन्होंने कई बार इसकी ओर अर्जुन का ध्यान आकृष्ट किया है। विशेषतः नवम अध्याय में गुह्यतम ज्ञान के रूप में उन्होंने शरणागति के आधारभूत तत्त्वों का निरूपण किया है। उन्होंने कहा है कि दैवी प्रकृति के आश्रित अनन्य मन वाले महात्मागण मुझे ही भूतों का आदि और अविनाशी मानकर भजते हैं। वे सदा मेरा कीर्त्तन करते हुए दृढ़व्रत धारण कर भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हुए मुझमें लगे रहते हैं। वे जानते हैं कि–

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। (गीता 9/18)

मैं ही सबकी गति, मैं ही सबका पोषणकर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत्, उत्पत्ति और प्रलय का स्थान, निधान एवं अविनाशी बीज हूँ। प्रभु की सर्वोपरिता के इस निरूपण में शरण का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। प्रभु ने इसी अध्याय में यह भी कहा है कि मैं अपने अनन्य नित्ययुक्त भक्तों का योगक्षेम वहन करता हूँ। अर्थात् इस लोक में उनके भरणपोषण का उत्तरदायित्त्व भी मेरा है और इसी के साथ-साथ उनके लिए मेरी प्राप्तिरूपी योग और मोक्षरूपी क्षेम का वहन भी मैं ही करता हूँ। इसी क्रम में आगे चलकर वे स्पष्ट करते हैं कि शरणागत को सबकुछ मुझको समर्पित कर देना चाहिए। अद्भुत हैं ये दोनों श्लोक–

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। (गीता 9/26-27)

इन श्लोकों में यह निरूपित किया गया है कि प्रभु भक्त द्वारा भक्तिपूर्वक दिया हुआ सामान्य से सामान्य पदार्थ भी प्रेमपूर्वक ग्रहण करते हैं, लेकिन उनकी अपेक्षा रहती है कि भक्त अपना सब कुछ उनको समर्पित कर दे। इसीलिए उन्होंने इन श्लोकों में कहा है कि जो मुझे पत्र, पुष्प और फल भक्तिपूर्वक अर्पण करता है मैं उस पवित्र मनवाले भक्त का यह उपहार स्नेहपूर्वक ग्रहण करता हूँ। अतः हे अर्जुन तू जो कुछ भी करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तप करता है वह सबका सब मुझको अर्पित कर दे। यही आत्मनिक्षेप या अपना सब कुछ समर्पित करने की वास्तविक भूमिका है। बिना इसके शरणागति की पूर्णता संभव नहीं है। एक बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि प्रभु ने यहाँ कहा है तू जो कुछ भी करता है उसे मुझे समर्पित कर दे।

उसमें कोई अपवाद नहीं होना चाहिए। अच्छा या बुरा जो कुछ भी भक्त से बन पड़ा उसे प्रभु को समर्पित करना चाहिए। किन्तु शरणागति के कुछ आचार्य इसमें थोड़ा अन्तर करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जो अच्छा काम हो उसे समर्पित करना चाहिए और यदि कोई बुरा काम बन पड़े तो उसे निवेदित करना चाहिए। निवेदित करना अर्थात् प्रभु को बता देना, स्वीकार कर लेना कि मुझसे गलती हो गयी और उसके लिए क्षमा माँगते हुए प्रभु से प्रार्थना करना कि आप मुझे गलतियों से बचाएँ। यह तभी संभव है जब शरणागत अपना मन भी प्रभु को अर्पित कर दे और अपनी बुद्धि भी प्रभु को समर्पित कर दे। मन में ही संकल्प-विकल्प उठते हैं, कुछ पाने की इच्छा-लालसा जगती है। शुद्ध बुद्धि उसका नियमन करती है और उसे शुभ की ओर प्रेरित करती है। इसीलिए भगवान् ने द्वादश अध्याय में कहा है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ (गीता 12/8)

अर्थात् हे अर्जुन, तू अपना मन मुझ में रख दे, अपनी बुद्धि को मुझमें प्रविष्ट करा दे। अर्थात् तू मुझमें ही अपना मन लगा, मुझमें ही अपनी बुद्धि लगा। यदि मन के साथ तेरी बुद्धि मुझमें लगी रहेगी तो तू मुझमें ही निवास करेगा, कभी विपथगामी नहीं होगा। इसमें कोई संशय नहीं। मन और बुद्धि तो प्रतीक रूप हैं, इनके माध्यम से प्रभु ने हमारी सम्पूर्ण सत्ता का ही समर्पण चाहा है। तभी शरणागति पूर्ण हो सकेगी।

एक बात और यहाँ स्पष्ट कर लेनी चाहिए। कोई किस वस्तु का किसी को समर्पण कर सकता है? निश्चय ही उसी वस्तु का जो उसकी हो। जो वस्तु किसी की हो ही नहीं, वह तो उस वस्तु को समर्पित नहीं कर सकता है। इसीलिए साधारणतः जब हम भगवान् को कुछ समर्पित करते हैं तो उस वस्तु को अपनी मानकर करते हैं। क्या यह मानना सही है? सच्चे भक्त की तो यही मान्यता है कि सब कुछ भगवान् का ही है। मेरा अपना कुछ है ही नहीं। जिसको मैंने अपना मान रखा है वह मेरी मूर्खता के अलावा कुछ नहीं है। अतः प्रभु को समर्पण करने का वास्तविक अर्थ यह है कि भ्रमवश प्रभु की ही वस्तु को अपनी वस्तु मान लेने के भ्रम का त्याग, वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति ममत्वबोध की मूर्खता का त्याग। इसीलिए कहा जाता है—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

इसी के अनुरूप कबीरदास ने कहा है—

मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा। तेरा तुझको सौंपता क्या लगता है मेरा॥

अतः सच्चा समर्पण अपने को और सब कुछ को ही प्रभु का मान लेना है। इस पर गोस्वामी श्रीकान्त शरण ने मानस की अपनी टीका के मंगलाचरण के क्रम में एक बहुत ही अच्छा सोरठा लिखा है:

प्राण तोर, मैं तोर, मन, बुधि, चित, यश तोर सब। एक तू ही तो मोर काहि निवेदौं तोहि प्रभु॥

अर्थात् मेरे प्राण, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा चित्त, मेरा यश स्वयं मैं..... ये सब के सब तो तुम्हारे ही हैं, केवल एक तुम ही मेरे हो। तुम्हीं बताओ मैं तुम्हें किसे समर्पित करूँ? समर्पण की यह समग्रता ही शरणागति की आधारशिला है।

किसके प्रति कौन समर्पित होगा, यह उसकी अपनी पृष्ठभूमि के ऊपर भी आधारित है। उसका स्वभाव कैसा है? उसके पिछले जन्म के संस्कार कैसे हैं? इन सबके ऊपर निर्भर करता है कि हम अपने भाव को किस रूप में वर्णन करें। लेकिन भगवान् ने कहा कि यह गुह्य से गुह्यतर बात है कि हमारे हृदय के भीतर जो परमात्मा बैठा हुआ है, उसी की शरण में हम चले जाएँ। कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि यदि एक ही परमात्मा बैठा है तो अनुचित कार्य क्यों करवाता है? बिजली भी तो एक ही है। कि नहीं? लेकिन बिजली फ्रिज में जायेगी तो ठंडक उत्पन्न करेगी, हीटर में जायेगी तो गर्मी उत्पन्न करेगी, पंखा चलायेगी, इस्त्री करेगी, कहीं सफेद रोशनी देगी, कहीं लाल रोशनी देगी। एक ही बिजली जैसे उपकरणों की भिन्नता के कारण अलग-अलग रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है, ऐसे ही एक

अव्यक्त परमात्मा हमारे सारे संस्कारों के कारण हमको अलग-अलग ढंग से परिचालित करता है। उसके परिचालन में हमारी कमियाँ हैं, हमारी सीमाएँ और उस सीमा के कारण हम उसके द्वारा उस प्रकार परिचालित हो रहे हैं।

शरणागत इस प्रकार का सम्पूर्ण समर्पण तब तक नहीं कर सकता जब तक उसे इस बात का दृढ़निश्चय न हो जाय कि जिसके प्रति मैं समर्पण कर रहा हूँ वही सर्वोपरि, सर्वसमर्थ तत्त्व है। अर्जुन श्रीकृष्ण को अपना इष्ट तो मानता है और यह भी कहता है कि देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास और स्वयं आपका भी यह कहना है कि आप ही परमब्रह्म हैं, परमधाम हैं, परमपवित्र हैं, अजन्मा हैं। किन्तु वह अपनी दिलजमई के लिए प्रभु की विभूतियों को जानना चाहता है, प्रभु के विराट् रूप का दर्शन करना चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरों के कथन के प्रति सम्मान भाव रखते हुए भी वह अपने अनुभव के द्वारा प्रभु की सर्वोपरिता का बोध करना चाहता है। ग्यारहवें अध्याय में प्रभु के भयावह विराट् रूप का दर्शन करने के कारण आतंकित होकर वह प्रभु से पूछ उठता है—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो, नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।। (गीता 11/31)

अर्थात् मुझे बताइये कि हे उग्ररूपधारी आप कौन हैं? मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप प्रसन्न हों। मैं आपकी प्रवृत्ति को नहीं जान पा रहा हूँ। मैं आदि पुरुष को जानना चाहता हूँ। इस पर प्रभु ने उसे बताया कि मैं लोकों का नाश करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। तेरे बिना भी प्रतिपक्षियों की सेना में जो योद्धा हैं वे नहीं बच पाएँगे। अत: तू उठ और शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य को भोग और इसके बाद शरणागति की रहनी का आदर्श निरूपित करते हुए वे कहते हैं **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्** हे अर्जुन तू केवल निमित्तमात्र बन, कार्य तो तुझे निमित्त बनाकर मैं करूँगा। सच्चा शरणागत अपने को प्रभु के हाथ का उपकरण ही मानता है। अपने को स्वयं कर्ता नहीं मानता। ग्यारहवें अध्याय में पहली बार अर्जुन ने अपनी ओर से प्रभु को आदिदेव, पुराण पुरुष, समस्त विश्व का परमाश्रय आदि कहकर इस बात की क्षमायाचना की है कि उसके पूर्व आपके प्रभाव को भली-भाँति न जानने के कारण मैंने आपको प्रेम से या प्रमाद से अपना सखा मानकर आपको हे केशव, हे यादव, हे सखे इस प्रकार सम्बोधित किया और विहार, शय्या, आसन और भोजन आदि के समय अकेले या अन्य सखाओं के सामने कभी-कभी आपका असत्कार भी किया। मेरे इन समस्त अपराधों को आप क्षमा करें। वह प्रभु के सौम्य मनुष्य रूप के दर्शन करना चाहता है और भगवान् उस पर कृपा कर उसे अपने उसी सौम्य रूप का दर्शन कराते हैं और अपनी प्राप्ति का मार्ग बताते हुए कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु य स मामेति पाण्डव।। (गीता 11/55)

अर्थात् हे अर्जुन जो पुरुष केवल मेरे लिए ही सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को करता है, मेरा परायण है (मुझे ही सबसे बड़ा मानता है), मेरा भक्त है (मुझसे ही प्रेम करता है) एवं संसार के प्रति जो अनासक्त है तथा समस्त प्राणियों के प्रति वैरभाव से रहित है वही मुझको प्राप्त होता है। इसमें प्रभु ने भक्त को अपनी क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और प्रेमशक्ति (इच्छाशक्ति) तीनों को उन्हें अर्पित करने का और संसार के प्रति रागद्वेष से मुक्त होकर व्यवहार करने का आदेश दिया है। यह भी पूर्ण समर्पणमूला शरणागति की ओर बढ़ने की ही प्रेरणा है।

इसी श्लोक के कारण अर्जुन प्रभु से जानना चाहता है कि इस प्रकार आपसे निरन्तर युक्त रहते हुए जो भक्त आपकी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं, उन दोनों में कौन उत्तम योगवेत्ता हैं। प्रभु ने इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा कि जो परम श्रद्धा के साथ मुझमें अर्थात् सगुण साकार परमात्मा में मन लगाकर नित्ययुक्त होकर उपासना करते हैं, मेरे मतानुसार वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि जो इन्द्रियों को नियंत्रित कर सर्वत्र समबुद्धि होकर सम्पूर्ण भूतों के हितों में रत होकर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक,

अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव (अर्थात् निराकार परमात्मा) की उपासना करते हैं वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं,

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।। (गीता 12/3-4)

प्रभु ने इतनी बात और जोड़ी कि अव्यक्त में आसक्त चित्त वालों को अधिक क्लेश होता है क्योंकि देहाभिमानियों द्वारा अव्यक्त विषयक मनोवृत्ति कठिनाई से प्राप्त की जा सकती है। यहाँ प्रभु ने साकार और निराकार दोनों की शरण में जाने का फल अपनी प्राप्ति के रूप में निर्दिष्ट करते हुए साकारोपासना को सरल तथा निराकारोपासना को कठिन बताया है। अर्जुन ने इसपर न कोई प्रश्न किया और न इससे विमति प्रकट की। इसका अर्थ यही है कि अर्जुन को यह स्वीकार था कि सगुण साकार की उपासना तुलनात्मक रूप से सरल और प्रीतिकर है। उसकी इस भावना को दृढ़करने के लिए प्रभु ने स्पष्ट रूप से कहा,

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। (गीता 12/6-7)

अर्थात्, हे अर्जुन जो अपने समस्त कर्मों को मुझे समर्पित कर, मेरे परायण होकर, अनन्ययोग से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मैं मृत्युरूपी संसार सागर से उन भक्तों का शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ। कर्मों के समस्त समर्पण के द्वारा यहाँ भी शरणागति की ओर ही संकेत किया गया है।

पन्द्रहवें अध्याय में भी प्रभु ने कहा है कि संसाररूपी वृक्ष को अनासक्तिरूपी शस्त्र से काटकर साधक को उस पद को ढूँढना चाहिए जहाँ पहुँचने पर फिर वापस नहीं लौटना पड़ता। इसके लिए उसे यह संकल्प करना चाहिए कि मैं उसी आदि पुरुष की शरण ग्रहण करता हूँ जिससे यह पुरानी प्रवृत्ति फैली हुई है:

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये। यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।। (गीता 15/4)

यह लक्षितव्य है कि यहाँ भी प्रभु ने शरण ग्रहण करने का स्पष्ट निर्देश दिया है।

अठारहवें अध्याय के समापन की ओर उन्मुख होते हुए प्रभु ने यह बताया कि सर्वत्र असक्त बुद्धि जितात्मा और विगतस्पृह पुरुष संन्यासयुक्त होकर परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है। वह विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर धृति से मन को वश में कर शब्दादि विषयों को त्यागकर, राग-द्वेष को नष्ट कर एकांतसेवी, अल्पाहारी, तन-मन-वचन को संयत कर ध्यानयोग और नित्य वैराग्य का आश्रय लेकर अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह का त्यागकर ममता से रहित होकर ब्रह्मभाव का पात्र होता है। ऐसा ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा पुरुष न शोक करता है, न कोई आकांक्षा करता है। वह समस्त भूतों के प्रति सम रहता हुआ मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है, जिसके द्वारा वह मैं जैसा और जो हूँ उसे तत्त्व से जान लेता है। और इसके अनन्तर वह मुझमें ही प्रवेश कर जाता है। इस लम्बी और बड़ी साधना का जो फल होता है, प्रभु के अनुसार वही फल शरणागति से भी प्राप्त होता है। अगले ही श्लोक में प्रभु ने इस सत्य को दो टूक शब्दों में बताते हुए कहा है:

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।। (गीता 18/56)

अर्थात्, जो पुरुष मेरा आश्रय ग्रहण कर समस्त कर्मों को (यहाँ तक कि काम्य कर्मों को भी) सदा करता रहता है, वह भी मेरे प्रसाद से शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है। आश्रय ग्रहण करने का अर्थ है—शरण ग्रहण करना। इससे यह स्पष्ट होता है कि शरणागति की साधना अधिक सुगम और सुरक्षित है। प्रभु चाहते हैं कि अर्जुन इसका अवलम्बन ग्रहण कर बुद्धि योग के द्वारा अपना चित्त मुझमें लगा दे। तभी वह मेरा अनुग्रह प्राप्त कर समस्त कठिनाइयों के पार जा सकेगा। उन्होंने अर्जुन से कहा : अर्जुन यदि तू अहंकार के कारण मेरी बात नहीं मानेगा तो

विनष्ट हो जाएगा। तू यह मत समझ कि तेरे यह कह देने पर कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तू युद्ध से बच पाएगा। अपने क्षत्रिय स्वभाव के कारण शत्रुओं के द्वारा ललकारे जाने पर या उनके द्वारा अपमानित होने पर तू अपने को रोक नहीं सकेगा और युद्ध में कूद पड़ेगा, क्योंकि तेरी प्रकृति ही तुझे युद्ध में लगा देगी। इस विडम्बना से बचने के लिए प्रभु उसे अन्त:स्थित ईश्वर की शरण में जाने का और उनकी प्रेरणा के अनुसार निर्णय करने का निर्देश देते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है और वह सभी प्राणियों को यन्त्रारूढ़की तरह अपनी माया से घुमा रहा है। तू सर्वभाव से उस ईश्वर की ही शरण में जा, उसके प्रसाद से तू परमशान्ति और शाश्वत स्थान को प्राप्त करेगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। (गीता 18/61-62)

प्रभु यहीं नहीं रुकते, वे कहते हैं कि मैंने तुझे गुह्य से गुह्यतर ज्ञान प्रदान किया है। इस पर तू पूरी तरह से विचार करने के अनन्तर जो चाहे सो कर।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरू।। (गीता. 18/63)

निष्काम बुद्धियोग की शरण में जाना गुह्यज्ञान है और अन्त:स्थित अव्यक्त परमेश्वर की शरण में जाना गुह्यतर ज्ञान है, इसके पश्चात् प्रभु ने अर्जुन को यह छूट भी दी कि जो उसे उचित लगे, जो वह ठीक समझे, वह वैसा करे। इस पर अर्जुन चुप ही रह गया। प्रभु को लगा कि इस छूट के कारण अर्जुन कहीं विपथगामी न हो जाय, क्योंकि स्वाधीनता में भटकाव की भी आशंका है। क्या हम लोग छोटे बच्चे को आग से खेलने की स्वतंत्रता दे देते हैं? यदि वह दीपशिखा को ऊँगली से पकड़ना चाहे तो क्या हम उसे पकड़ने देंगे? फिर उन्हें यह भी लगा कि निर्णय करने का भार तो अर्जुन ने मुझे सौंप रखा है। अत: अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण का प्रगाढ़प्रेम उमड़ा। उन्होंने उसके मंगल के लिए (और उसके माध्यम से हम सबों के मंगल के लिए भी) उसे गुह्यतम ज्ञान का उपदेश देते हुए कहा:

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। (गीता. 18/64)

अर्थात्, तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, अत: तेरे मंगल के लिए मैं समस्त गुह्यों में भी गुह्यतम..... सर्वगुह्यतम ज्ञान को प्रकाशित करने वाले परमश्रेष्ठ वचन तुझे सुना रहा हूँ। उन्हें तू ध्यान से सुन। यह सर्वगुह्यतम ज्ञान शरणागति विषयक ही है प्रभु ने इसे असंदिग्ध शब्दों में कहा—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (गीता. 18/65-66)

अर्थात्, तू अपना मन मुझमें लगा दे, मुझसे ही प्रेम कर, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर तो तू निश्चय ही मुझको प्राप्त करेगा। मैं तुझसे यह सत्यप्रतिज्ञा कर रहा हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। हे अर्जुन तू समस्त धर्मों का परित्याग कर मुझ एक की ही शरण में आ जा। मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। शोक मत कर। इससे यह स्पष्ट है कि बुद्धि की शरण में जाना गुह्यज्ञान है और हृदय देश में स्थित निराकार ईश्वर की शरण में जाना गुह्यतर ज्ञान है एवं साकार प्रभु.... श्रीकृष्ण की शरण में आ जाना सर्वगुह्यतम ज्ञान है। सर्वगुह्यतम शब्द का प्रयोग प्रभु ने एक विशेष उद्देश्य से किया है। इसके पहले वे **गीता** में दो बार गुह्यतम शब्द का प्रयोग कर चुके हैं। नवम अध्याय के पहले श्लोक में उन्होंने कहा है:

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। (गीता. 9/1)

अर्थात्, हे अर्जुन तू दोषदृष्टिरहित मेरा भक्त है, अत: मैं तुझे विज्ञान सहित गुह्यतम ज्ञान का उपदेश दूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से छूट जायेगा। दूसरी बार पन्द्रहवें अध्याय के बीसवें श्लोक में उन्होंने कहा है:

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ। एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।। (गीता. 15/20)

अर्थात्, हे निष्पाप अर्जुन मैंने जो गुह्यतम शास्त्र तुम्हें सुनाया उसे जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है। गुह्यतम बात तो एक ही हो सकती है। सर्वगुह्यतम ज्ञान के माध्यम से उन्होंने शरण ग्रहण करने का उपदेश दिया है, इसीलिए उन्होंने तीसरी बार उसे गुह्यतम कह दिया। विचार किया जाये तो लगेगा कि पहले दो प्रसंगों में भी उन्होंने शरणागति का ही उपदेश दिया है। नवम अध्याय में तो शरणागति के अंगी तत्त्व सर्वसमर्पण करने का उपदेश बहुत ही स्पष्ट शब्दों में दिया गया है:

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता. 9/27)

अर्थात्, हे अर्जुन, तू जो भी करता है, जो भी खाता है, जो भी हवन करता है, जो भी देता है तथा जो भी तप करता है वह सबका सब मुझको अर्पण कर दे। यह भी लक्षितव्य है कि नवम अध्याय के अन्तिम श्लोक को ही थोड़े से परिवर्तन के साथ प्रभु ने अठारहवें अध्याय में दोहरा दिया है। नवम अध्याय में उन्होंने कहा है:

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (गीता. 9/34)

इसी श्लोक की दूसरी पंक्ति में थोड़ा सा परिवर्तन कर यही बात प्रभु ने अठारहवें अध्याय में भी कही है:

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ (गीता. 18/65)

इन दोनों श्लोकों में प्रभु यही कहते हैं कि हे अर्जुन, तू मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर, ऐसा करने पर तू मुझे ही प्राप्त होगा। अठारहवें अध्याय में इस पर अधिक जोर देने पर वे कहते हैं कि मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके यह बात कह रहा हूँ!

नवम अध्याय में जहाँ वे कहते हैं कि अपने अन्तःकरण को मुझमें लगाकर मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त करेगा, वहीं अठारहवें अध्याय में प्रभु कहते हैं कि तू मेरा अत्यंत प्रिय है, मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस प्रकार समर्पित होने पर तू मुझको ही प्राप्त करेगा। स्पष्टतः इन दोनों उक्तियों का अभिप्राय शरण ग्रहण करने का निर्देश देना ही है।

इसी तरह पन्द्रहवें अध्याय में भी गुह्यतम तत्त्व का निरूपण करते हुए प्रभु ने कहा था :

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता. 15/18-19)

अर्थात्, क्योंकि मैं क्षर से भी परे और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसीलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम अर्थात् सर्वोपरि कहा जाता है। हे अर्जुन, जो असम्मूढ़पुरुष मुझको पुरुषोत्तम के रूप में जान जाता है, वह सब कुछ जान जाता है और इसीलिए मुझको सर्व भाव से, सब प्रकार से भजता है। सर्वोपरि तत्त्व को सब प्रकार से भजना, उसकी शरण ग्रहण करना ही है। अठारहवें अध्याय के बासठवें श्लोक में भी प्रभु ने अन्तःस्थिति परमेश्वर की शरण में सर्वभाव से जाने के लिए ही कहा है। अतः नवम एवं पन्द्रहवें अध्याय में गुह्यतम तत्त्व से शरणागत् का ही निरूपण किया गया है, यह स्पष्ट है। अठारहवें अध्याय में प्रभु ने अपनी शरण में आने को सर्वगुह्यतम कहा है, क्योंकि वे यहाँ समस्त साधनों का भरोसा त्यागकर सीधे-सीधे केवल अपनी ही शरण में आने का निर्देश दे रहे हैं। जब प्रभु कहते हैं कि सब धर्मों का त्यागकर मुझ एक की शरण में आ जा तब वे यही बताना चाहते हैं कि तू अपने किसी धर्म को साधन बना कर मुझे प्राप्त कर लेगा, ऐसा भी मत सोच। वे यह भी नहीं कह रहे हैं कि तू सब धर्मों का त्यागकर अधर्मी बन जा। वे यही बता रहे हैं कि तू सब धर्मों का पालन करते हुए भी किसी भी धर्म को मुझे पाने का साधन न मान बैठ। तू निस्साधन होकर मेरी शरण में आ। धर्म पालन का अहंकार छोड़कर मेरी शरण में आ। जो प्रभु की शरण में जाएगा वह पापी तो हो ही नहीं सकता। प्रभु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है:

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ (गीता. 7/15)

अर्थात्, मूढ़, नराधम, माया से हर लिये गये ज्ञान वाले, आसुरी प्रकृति वाले, पापाचारी मनुष्य मेरी शरण ग्रहण नहीं करते। अत: शरणागत तो सहज धर्मात्मा होगा, पुण्यात्मा होगा, लेकिन उसे अपने किसी भी धर्म कर्म को प्रभु को प्राप्त करने का साधन नहीं मानना चाहिए। उसे तो यही मानना चाहिए कि प्रभु अपनी कृपा के कारण ही मुझे अपना रहे हैं। तभी उसमें निस्साधन होने की विनम्रता होगी और एकमात्र प्रभु की शरण में जाने की अनन्यता होगी। प्रभु ने यहाँ शरण प्राप्त करने के लिए निस्साधनता और अनन्यता को शरण के लिए अनिवार्य लक्षण बताने के साथ-साथ शरणागत को आश्वस्त किया है कि मैं तुझे समस्त पापों से छुड़ा दूँगा, तू शोक मत कर। अर्थात् प्रभु शरणागत के मंगल का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। अत: यह कथन नवें एवं पन्द्रहवें अध्याय के गुह्यतम ज्ञान से भी अधिक गुह्य है, सर्वगुह्यतम है।

यह भी लक्षणीय है कि **गीता** का उपदेश यहीं पूर्ण हो जाता है। इसके बाद तो प्रभु कहते हैं कि सर्वगुह्यतम तत्त्व को तपहीन, भक्तिहीन, अश्रद्धालु एवं मेरे निन्दक व्यक्तियों को नहीं सुनाना चाहिए। इस परम गुह्यतम शास्त्र को जो मेरे भक्तों को सुनाएगा वह मुझे प्राप्त कर लेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस निरूपण से यह स्पष्ट है कि **गीता** का चरम तत्त्व शरणागति ही है।

मधुसूदन सरस्वती ने **गीता** की अपनी व्याख्या में इस प्रकरण का विवेचन करते हुए साधना के अभ्यास की परिपक्वता के आधार पर शरणागति के तीन भेद किये हैं : मृदु, मध्य और अधिमात्र। उनकी उक्ति है:—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा। भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकत:॥

(गीता के 18/66 श्लोक की मधुसूदनी टीका के अन्तर्गत कथित)

शरणागति की साधना के पहले स्तर पर शरणागत के मन में यही भाव आता है कि 'तस्यैवाहं' मैं उसी का हूँ, मैं प्रभु का ही हूँ। इसे उन्होंने मृदु शरणागति कहा है। इसके उदाहरण में उन्होंने शंकराचार्य की षट्पदी का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है:

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरंग: क्वचन समुद्रो न तारंग:॥

अर्थात् विवेक के स्तर पर भेद का अपगमन हो जाने पर भी व्यवहार के स्तर पर हे प्रभु मैं तुम्हारा ही हूँ। मैं यह कैसे कहूँ कि तुम मेरे हो। तरंग और समुद्र में भी तो अभेद है, किन्तु तरंग को ही सामुद्र (समुद्र का) कहा जाता है, समुद्र को तारंग (तरंग का) नहीं कहा जाता। यहाँ शरणागत अपनी विनम्रता के कारण अपने को प्रभु का मानता है। प्रभु को अपना कहने में सकुचाता है, जब शरणागति और प्रगाढ़ होती है, तब शरणागत को लगता है कि 'ममैवासौ' प्रभु उसके ही हैं। शरणागति के इस भेद के उदाहरण में मधुसूदन ने बिल्वमंगल की उक्ति को उद्धृत किया है। अन्धे बिल्वमंगल कुएँ में गिर पड़े, प्रभु ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें कुएँ से बाहर निकाला। बिल्वमंगल समझ गये कि उनको निकालने वाले प्रभु ही हैं। बिल्वमंगल ने उन्हें पहचान लिया है यह जानकर श्रीकृष्ण हाथ छुड़ाकर चले गये। इस पर बिल्वमंगल ने कहा—हे कृष्ण, तुम मेरा हाथ बलपूर्वक झटककर चले गये, इसमें कौन बड़ी बहादुरी की बात है। यदि तुम मेरे हृदय से निकल जा सको तो मैं समझूँगा कि तुम बहादुर हो:

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण! किमद्भुतम्। हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

(बिल्वमंगल)

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार यह मध्य शरणागति है। इसमें शरणागत प्रभु को अपना मानता है। प्रभु भले ही उसे छोड़कर चले जाएँ तो भी वह प्रभु को अपना ही मानता है। सूर की गोपिकाओं ने भी इसी भावना से प्रेरित होकर कृष्ण के सम्बन्ध में कहा था, **'ब्याहौं लाख धरौ दस कुबरी, अंतहु कान्ह हमारो'** कृष्ण सोलह हजार नहीं भले एक लाख विवाह कर लें, एक नहीं दस कुब्जाओं को स्वीकार कर लें तो भी कृष्ण हमारे ही हैं। शरणागत में शरण्य

के प्रति प्रगाढ़ममत्व का बोध इस शरणागति में होता है। अधिमात्र या सर्वोपरि शरणागति **'स एवाहं'** का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने **विष्णुपुराण** का श्लोक उद्धृत किया है, जो अपने दूत के प्रति यमराज की उक्ति है:

सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भक्त्यनन्ते हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्॥ (विष्णुपुराण 3.7.32)

यहाँ यमराज अपने दूत को समझाते हुए कह रहे हैं कि जिनके मन में अनन्तरूप भगवान् के प्रति अभेद की ऐसी अचल बुद्धि हो जाए कि वे यह अनुभव करें कि यह समस्त विश्व और मैं वासुदेव ही हूँ, एकमात्र सत्ता तो परम पुरुष परमेश्वर की ही है, उन्हें तुम दूर से ही छोड़कर चले जाना। शरणागति की चरम परिणति अपने शरण्य का सर्वत्र अनुभव करने में ही होती है। यही बात भगवान् ने **गीता** में भी कही है:

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (गीता. 7/19)

अर्थात्, अनेकानेक जन्मों के अन्त में ज्ञानवान इस भाव से मेरी शरण ग्रहण करता है कि यह सब वासुदेव ही है, ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। **गीता** के अनुसार भी ज्ञानी भक्त की शरणागति ही सर्वश्रेष्ठ शरणागति है।

प्रभु अन्त में अर्जुन से पूछते हैं कि हे अर्जुन, क्या तूने मेरे इस उपदेश को एकाग्रचित्त होकर सुना? क्या इससे तेरा अज्ञान जनित सम्मोह नष्ट हुआ? जिसके उत्तर में अर्जुन की यह स्वीकारोक्ति है:

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ (गीता. 18/73)

अर्थात्, हे अच्युत, तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली। अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ अब मैं तुम्हारे वचन का पालन करूँगा। जो अर्जुन अपने प्रज्ञावाद के अहंकार के कारण शरण ग्रहण करने के अनन्तर भी बोला था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा वही अर्जुन अब असंदिग्ध शब्दों में कह रहा है कि मैं तुम्हारे आदेश का पालन करूँगा। अर्जुन की शरणागति यहीं पूर्णता को प्राप्त करती है। शरणागत प्रभु की इच्छा के अनुरूप कार्य करता है, अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं। संजय का मत है कि ऐसे शरण्य और शरणागत की जोड़ी जहाँ होती है, वहीं श्री(समृद्धि), विजय, विभूति और अचल नीति भी होती है। संजय के इस श्लोक के साथ ही **गीता** पूर्ण हो जाती है:

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ (गीता. 18/78)

अतः आदि से अन्त तक सूक्ष्म भाव से **गीता** का अनुशीलन करने पर यह अपरिहार्य निष्कर्ष निकलता है कि शरणागति ही **गीता** का चरम तत्त्व है।

* * *